दर्शन–स्तुति

(पं. दौलतरामजी कृत)

(दोहा)

सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि, निजानंद रसलीन।
सो जिनेन्द्र जयवंत नित, अरि–रज–रहस विहीन।।१।।

(पद्धरि छन्द)

जय वीतराग–विज्ञानपूर, जय मोहतिमिर को हरन सूर।
जय ज्ञान अनंतानंत धार, दृग–सुख–वीरजमण्डित अपार।।२।।
जय परमशांत मुद्रा समेत, भविजन को निज अनुभूति हेत।
भवि भागन वचजोगे वशाय, तुम धुनि ह्वै सुनि विभ्रम नशाय।।३।।
तुम गुण चिंतत निजपर विवेक, प्रकटै, विघटैं आपद अनेक।
तुम जगभूषण दूषणविमुक्त, सब महिमायुक्त विकल्पमुक्त।।४।।
अविरुद्ध शुद्ध चेतन स्वरूप, परमात्म परम पावन अनूप।
शुभ–अशुभविभाव–अभाव कीन, स्वाभाविकपरिणतिमय अछीन।।५।।
अष्टादश दोष विमुक्त धीर, स्वचतुष्टयमय राजत गंभीर।
मुनिगणधरादि सेवत महंत, नव केवललब्धिरमा धरंत।।६।।
तुम शासन सेय अमेय जीव, शिव गये जाहिं जैहैं सदीव।
भवसागर में दुख छार वारि, तारन को और न आप टारि।।७।।
यह लखि निजदुखगद हरणकाज, तुम ही निमित्तकारण इलाज।
जाने तातैं मैं शरण आय, उचरों निज दुख जो चिर लहाय।।८।।
मैं भ्रम्यो अपनपो विसरि आप, अपनाये विधि–फल पुण्य–पाप।
निज को पर को करता पिछान, पर में अनिष्टता इष्ट ठान।।९।।
आकुलित भयो अज्ञान धारि, ज्यों मृग मृगतृष्णा जानि वारि।
तन परिणति में आपो चितार, कबहूँ न अनुभवो स्वपदसार।।१०।।
तुमको बिन जाने जो कलेश, पाये सो तुम जानत जिनेश।
पशु नारक नर सुरगति मँझार, भव धर–धर मर्‌यो अनंत बार।।११।।

अब काललब्धि बलतैं दयाल, तुम दर्शन पाय भयो खुशाल।
मन शांत भयो मिटि सकल द्वन्द्व, चाख्यो स्वातमरस दुख निकंद।।१२।।
तातैं अब ऐसी करहु नाथ, बिछुरै न कभी तुव चरण साथ।
तुम गुणगण को नहिं छेव देव, जग तारन को तुव विरद एव।।१३।।
आतम के अहित विषय-कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय।
मैं रहूँ आपमें आप लीन, सो करो होऊँ ज्यों निजाधीन।।१४।।
मेरे न चाह कछु और ईश, रत्नत्रयनिधि दीजे मुनीश।
मुझ कारज के कारन सु आप, शिव करहु हरहु मम मोहताप।।१५।।
शशि शांतिकरन तपहरन हेत, स्वयमेव तथा तुम कुशल देत।
पीवत पियूष ज्यों रोग जाय, त्यों तुम अनुभवतैं भव नशाय।।१६।।
त्रिभुवन तिहुँ काल मँझार कोय, नहिं तुम बिन निज सुखदाय होय।
मो उर यह निश्चय भयो आज, दुख जलधि उतारन तुम जहाज।।१७।।

(दोहा)

तुम गुणगणमणि गणपति, गणत न पावहिं पार।
'दौल' स्वल्पमति किम कहै, नमूँ त्रियोग सँभार।।१८।।